

# जैन दर्शन में मन

बच्छराज दूगड़

भारतीय दर्शन का मुख्य रूप तत्त्व दर्शन या मोक्ष दर्शन रहा है। इसलिए उसने विश्व की व्याख्या और मोक्ष के साधक बाधक तत्त्वों की मीमांसा की है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए सभी दर्शनों ने मोक्ष मार्ग का निरूपण किया है। तथा मोक्ष क्या है, इसका भी विस्तार से विश्लेषण हुआ है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है—“जिसने अहंकार और वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली; मन, वाणी और शरीर के विकारों को धो डाला; जिनकी आशा निवृत्त हो चुकी, उन सुविहित आत्माओं के लिए यही मोक्ष है।” इस विश्लेषण में भी मन को प्रमुख स्थान देते हुए कहा गया है कि इन्द्रिय और मन का वशीकरण ही मोक्ष मार्ग है।

दूसरी तरफ दर्शनों में ज्ञान मीमांसा का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जब भी ज्ञान मीमांसा की चर्चा होती है, मन का वहाँ रहना आवश्यक हो जाता है। इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही ज्ञेय को जानकर हम ज्ञान करते हैं। अतः दर्शन शास्त्र में मन एक ऐसा शब्द है जिसके अस्तित्व को सभी दर्शनों ने किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है।

मन के विषय में पाश्चात्य दार्शनिकों ने बहुत कुछ चिन्तन किया है। आधुनिक मनो-विज्ञान की शाखा भी वास्तव में पाश्चात्य दर्शन की ही देन है। पर भारतीय दर्शन में भी मन का स्थान कुछ विशिष्टता लिये हुए है। भारतीय दर्शन की तरह मन क्या है, मन का पौद्गलिक वस्तुओं व शारीरिक अंगों के साथ क्या सम्बन्ध है, क्या मन की सत्ता सभी प्राणियों में एक है अथवा विभेद है, इत्यादि मौलिक प्रश्नों पर पाश्चात्य दर्शन में भी प्लेटों से लेकर फ्रायड तक ने विचार किया है। पाश्चात्य दार्शनिक मन के अस्तित्व को स्वीकार करने में मुख्य तीन तथ्य मानते हैं—(१) विचार या चिन्तन, (२) ज्ञान और (३) भविष्य में लक्ष्य का निर्धारण।

## जैन दर्शन में मन

जैन दर्शन के अनुसार मन स्वतन्त्र पदार्थ या गुण नहीं है। वह भाव मन के रूप में आत्मा का ही एक विशेष गुण है। मन की प्रवृत्ति भी कर्म और नो-कर्म सापेक्ष है। अतः मन की स्थिति को समझने से पूर्व इस त्रिपुटी को समझना आवश्यक है।

**आत्मा**—चैतन्य-लक्षण, चैतन्य-स्वरूप और चैतन्यमय पदार्थ का नाम आत्मा है।<sup>१</sup> पर चैतन्य का विकास सब आत्माओं में समान नहीं है।<sup>२</sup> इस तारतम्य का निमित्त है कर्म।<sup>३</sup>

१. उत्तराध्ययन २८/१०, ११

२. स्थानांग २

३. भगवती ७/८

**कर्म**—आत्मा की प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट तथा उसी के साथ एकरसीभूत बना हुआ पुद्गल कर्म है।<sup>१</sup> कर्म के विचार में नो-कर्म की अपेक्षा रहती है। कर्म विपाक की सहायक सामग्री नो-कर्म है।<sup>२</sup> कर्म विपाक में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, पुद्गल आदि बाहरी परिस्थितियों की अपेक्षा रहती है।<sup>३</sup>

**मन क्या है ?**—मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है।<sup>४</sup> धवला में कहा गया है कि जो भली प्रकार ( ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्य-भिज्ञा, तर्क अनुमान, आगम आदि पूर्वक ) जानता है, उसे संज्ञा या मन कहते हैं।<sup>५</sup> द्रव्य-संग्रह की टीका में कहा गया है कि मन अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों का जाल है।<sup>६</sup> इन सभी परिभाषाओं का संकलनात्मक रूप जैन सिद्धान्त दीपिका में मिलता है, जिसके अनुसार मन, इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयों में प्रवृत्त होता है। वह शब्द रूप आदि सभी विषयों को जानता है तथा भूत, भविष्य और वर्तमान का संकलनात्मक ज्ञान करता है।<sup>७</sup>

**मन के कार्य**—स्मृति, चिंतन और कल्पना ही मन के कार्य हैं। यह इन्द्रिय ज्ञान का प्रवर्तक है। नन्दीसूत्र में मन के कार्यों का विभाजन इस प्रकार है—“ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता, विमर्श।<sup>८</sup> आचार्य सिद्धसेन के अनुसार संशय, प्रतिभा, स्वप्नज्ञान, वितर्क, सुख-दुःख, क्षमा, इच्छादि मन के कार्य हैं।”

**मन चेतन या अचेतन**—जैन दर्शन के अनुसार मन चेतन द्रव्य और अचेतन द्रव्य के गुण के सम्मिश्रण की स्थिति में ही उत्पन्न होता है। जब आत्मा सर्वथा कर्म मुक्त होती है तो उसमें मन की स्थिति नहीं होती। इसलिए जैन-दृष्टि के अनुसार मन दो प्रकार के होते हैं—एक चेतन और दूसरा पौद्गलिक।

पौद्गलिक मन ज्ञानात्मक मन का सहयोगी होता है। इसके बिना ज्ञानात्मक मन अपना कार्य नहीं कर सकता। उसमें अकेले में ज्ञान-शक्ति नहीं होती दोनों के योग से मान-सिक क्रियाएँ होती हैं।

ज्ञानात्मक चेतना ( भावमन ) मस्तिष्क ( पौद्गलिक ) की उपज नहीं हो सकती। मन चैतन्य के विकास का एक स्तर है अतः ज्ञानात्मक है पर उसका यह कार्य जिस स्नायु मण्डल, मस्तिष्क और मनोवर्गणा की सहायता से होता है वह पौद्गलिक मन है।

१. जैनसिद्धान्त दीपिका ४/१
२. प्रज्ञापना १७
३. वही १३
४. विशेषावश्यकभाष्य गाथा ३५२५ (मणणं व मन्नए वाडणेण)
५. धवला १/१/१, ४/१५२/३
६. द्रव्यसंग्रह टीका १२/३०/१
७. जैनसिद्धान्त दीपिका २/३३
८. नन्दीसूत्र ३६

**मन और मस्तिष्क की सापेक्षता**—मन और मस्तिष्क में गहरा सम्बन्ध है। इन्द्रियों के द्वारा विषय का ग्रहण होता है, मस्तिष्क उनका संवेदन करता है तथा मन उस पर पर्यालोचन यानि हेयता-उपादेयता का कार्य करता है। मस्तिष्क मन की प्रवृत्ति का मुख्य साधन अंग है, इसीलिए उसके विकृत हो जाने से मन भी विकृत हो जाता है। फिर भी ये स्वतन्त्र हैं।<sup>१</sup>

**मन और इन्द्रियों की सापेक्षता**—जैन दर्शन के अनुसार मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान के साधन हैं - इन्द्रियाँ और मन। यहाँ ज्ञान का क्रम इस प्रकार है—व्यञ्जन—ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का उचित सन्निधान। दर्शन—वस्तु के सर्व-सामान्य रूप का अवबोध। संशय—वस्तु स्वरूप के बारे में अनिर्णायक विकल्प। ईहा—वस्तु स्वरूप का परामर्श अर्थात् वस्तु में प्राप्त और अप्राप्त धर्मों का पर्यालोचन। अवाय—वस्तु स्वरूप का निर्णय। धारण—वस्तु स्वरूप का स्थिरीकरण।

इस ज्ञान क्रम में व्यञ्जन तथा दर्शन तक इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है। मन का कार्य अर्थावग्रह से प्रारम्भ होता है। मन सब इन्द्रियों के युगपत् प्रवृत्ति नहीं कर सकता। वह एक काल में एक इन्द्रिय के साथ ही व्यापार कर सकता है। भावमन (ज्ञानात्मक चेतना) उपयोगमय है। वह जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मनोयोग कर जिस वस्तु का उपयोग करता है तब वह तन्मयोपयोग ही हो जाता है। इन्द्रियों के व्यापार की सार्थकता इसी में है कि उसके बाद मन भी अपना कार्य करे। इन्द्रियों के अभाव में मन पंगु हो जाता है। वह उसी विषय पर चिंतन कर सकता है जो कभी न कभी इन्द्रियों से गृहीत हुआ हो। इन्द्रियाँ सिर्फ मूर्त-द्रव्य की वर्तमान पर्याय को ही जानती हैं। मन मूर्त और अमूर्त दोनों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, इसलिए मन को सर्वार्थग्राही कहा गया है।<sup>२</sup>

**मन की अप्राप्यकारिता**—मन का वस्तु के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता। यदि मन की प्राप्यकारिता को मानें तो आग के चिंतन से हम जलने लगेंगे और चंदन के चिंतन से शीतलता का अनुभव करने लगेंगे। अतः मन की अप्राप्यकारिता सिद्ध है।<sup>३</sup>

**मन का स्थान**—गोम्मटसार के कर्त्ता के अनुसार मन का स्थान हृदय है। पर योग के कुछ आचार्य मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर को मानते हैं। उनके अनुसार जहाँ-जहाँ प्राणवायु है वहाँ-वहाँ मन है।<sup>४</sup>

**मन इन्द्रिय है या नहीं**—जैन दृष्टि के अनुसार मन अनीन्द्रिय है। इसका अर्थ यह है कि मन इन्द्रिय की तरह प्रतिनियत अर्थ को जानने वाला नहीं है। इसलिए इन्द्रिय भी नहीं है। इस विषय में ध्वलाकार का कथन है कि इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिंग को इन्द्रिय कहते हैं। जिस

१. सन्मतितर्कप्रकरण, काण्ड-२

२. जैनसिद्धान्तदीपिका २/३३

३. अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग—६, पृ० ७६-८३

४. योगशास्त्र ५/२ मनोयत्र ... नीरवत् १।

प्रकार शेष इन्द्रियों का बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होता है वैसा मन का नहीं होता। अतः मन अनीन्द्रिय है।<sup>१</sup> अनीन्द्रिय का अर्थ इन्द्रिय सदृश है।

**मन का अधिकारी कौन**—मन के व्यक्त चेतनत्व की दृष्टि से गर्भज पंचेन्द्रिय प्राणी ही अधिकारी है। पर संजीश्रुत की अपेक्षा से इत प्राणी भी उसके अधिकारी हैं। हेतुवादोप-देशिकी संज्ञा वाले जीव बिना ईहा अपोह के भी ईष्ट की ओर प्रवृत्ति करते हैं और अनिष्ट से निवृत्ति करते हैं। दीर्घकालिकी संज्ञा वाले जीव ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा आदि के सहारे वस्तु के विषय में त्रैकालिक आलोचनात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। सम्यग्दृष्टि संज्ञा वाले जीवों में ही मानसिक ज्ञान का यथार्थ और पूर्ण विकास होता है।

**मन की विविध अवस्थाएँ**—जैन दर्शन के ग्रंथों में मन की अवस्थाओं का वर्णन बहुत कम उपलब्ध होता है पर जैन योग ग्रंथों में मन की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, योगीन्दुदेव, शुभचन्द्र आदि ने अपने ग्रंथक्रमशः मोक्षप्राभृत, समाधितंत्र, परमात्मप्रकाश और ज्ञानार्णव में मन के प्रकारों की चर्चा की है। इनमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की चर्चा विस्तार से हुई है। बहिरात्मा मन की वह स्थिति है जिसकी विद्यमानता से व्यक्ति अपने भीतर कुछ भी सार या तत्त्व की अनुभूति नहीं करता। उसे बाह्य पदार्थों में ही सार लगता है। अन्तरात्मा मन की स्थिति में वह अपने भीतर में सार देखने लगता है। वह अपने भीतर सुख आनन्द, शक्ति चैतन्य को बहते हुए देखता है। परमात्मा विशुद्ध चैतन्य की स्थिति है वहाँ मन का कोई संबंध नहीं अर्थात् वहाँ मन नहीं होता।

स्थानांगसूत्र में मन के प्रकार एवं मन की अवस्थाओं का निरूपण हुआ है। वहाँ मन के तीन प्रकार बताये हैं—(१) तन्मन-लक्ष्य में लगा हुआ मन, (२) तदन्यमन-अलक्ष्य में लगा हुआ मन, (३) नो-अमनमन का लक्ष्य हीन व्यापार। यहाँ मन की तीन अवस्थाएँ भी प्रतिपादित की गई हैं। (१) सुमनस्कता-मानसिक प्रसन्नता, (२) दुर्मनस्कता-मानसिक विषाद, (३) नो मन-स्कता और नो-दुर्मनस्कता—मानसिक उपेक्षा भाव या तटस्थता।<sup>२</sup>

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में अपने स्वानुभव की चर्चा करते हुए सर्वप्रथम मन की अवस्थाओं का निरूपण किया है। विक्षिप्तमन यातायात मन, श्लिष्ट मन और सुलीन मन। यहाँ हेमचन्द्राचार्य पर पतंजलि प्रणीत योगदर्शन पर लिखे व्यास भाष्य का प्रभाव परिलक्षित होता है। व्यास ने प्रथम सूत्र की व्याख्या में ही मन के भेदों का इस प्रकार निरूपण किया है—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं को समझकर आचार्य श्री तुलसी ने अपने ग्रन्थ मनोनुशासनम् में इन अवस्थाओं का निरूपण किया है। मूढ़, विक्षिप्त यातायात, श्लिष्ट, सुलीन और निरुद्ध।

**मूढ़**—जो मन मिथ्या दृष्टि और मिथ्या आचार में परिव्याप्त होता है, उसे मूढ़ कहते हैं। इस अवस्था में मोह प्रबल होता है और मन केवल बाह्य जगत् और परिस्थिति का ही प्रतिबिम्ब लेता रहता है। इस मन में किसी एकविषय पर स्थिर रहने की योग्यता नहीं होती।

१. धवला १/१/१, ३५/२६०/५

२. स्थानांगसूत्र—३/३५७, १८८

**विक्षिप्त**—जो मन इधर-उधर विचरता रहता है अर्थात् किसी एक विषय पर निश्चल नहीं रहता, वह विक्षिप्त मन है। इस अवस्था में भीतर की ओर झाँकने की भावना जागृत होती है और इस अवस्था में लगता है कि मन बहुत चंचल है। यह स्थिरता की ओर बढ़ने का प्रथम चरण है।

**यातायात**—जो मन कभी अन्तर्मुखी बनता है, कभी बहिर्मुखी उसे यातायात मन कहते हैं।

**श्लिष्ट**—ध्येय में स्थिर हुए मन को श्लिष्ट कहते हैं। पर यहाँ भी ध्याता और ध्येय में पूर्ण एकात्मकता नहीं है।

**सुलीन**—जो मन ध्येय में सुस्थिर हो जाता है, उसे सुलीन मन कहते हैं। ध्याता, ध्येय में अपना अस्तित्व भुला देता है। फिर भी यहाँ मन की गति समाप्त नहीं होती, क्योंकि उसे ध्येय की पूर्ण स्मृति बनी रहती है।

**निरुद्ध**—जो मन बाह्य आलम्बन से शून्य हो केवल आत्मपरिणत हो जाता है, वह निरुद्ध मन है। यहाँ पर ध्येय की स्मृति भी समाप्त हो जाती है। तथा इन्द्रिय और मन की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है।<sup>१</sup>

**मनोनिरोध के उपाय**—उत्तराध्ययन में केशी और गौतम के संवाद से मन को वश में करने का जो उपाय दिया गया है वह है श्रुत।<sup>२</sup> धर्म शिक्षा के द्वारा मन शान्त हो जाता है। मनोनुशासनम् में मनोनिग्रह के कुछ बाहरी व कुछ आंतरिक उपाय बताये गये हैं। जब चैतन्य का प्रवाह अन्तर्मुखी होता है तब कल्पनाएँ और स्मृतियाँ स्वतः निरुद्ध हो जाती हैं। आत्मज्ञान की निर्मलता ही वैराग्य का रूप लेती है। मन के निरोध का एक दूसरा हेतु श्रद्धा का प्रकर्ष है। श्रद्धा के प्रकर्ष से भी मानसिक एकाग्रता सधती है। ये ही उपाय पातंजल योगदर्शन में भी बताये गये हैं।<sup>३</sup> भगवान् बुद्ध ने भी मन के नियंत्रण पर बल दिया है। उन्होंने कहा है कि मन नियंत्रण में आ जाय तो सभी विषयों से मन को हटाना आवश्यक नहीं है। जहाँ-जहाँ पाप है वहाँ-वहाँ से मन को हटाना है।<sup>४</sup>

मनोनिरोध के बाह्य उपाय इस प्रकार हैं—

**शिथिलीकरण**—काया की शिथिलता मनोनिरोध का सुन्दर उपाय है। काया की चंचलता ही मन को बढ़ाती है। शरीर की शिथिलता संकल्प और श्वास पर निर्भर है। अतः जितनी संकल्प और श्वास की शिथिलता होगी, मन का निरोध भी सहज हो जायेगा।

**ध्यान**—ध्यान में मन को किसी विषय पर नियोजित करके मन की चंचलता को कम किया जाता है। उत्तराध्ययन में भी प्रतिपादित किया गया है कि एकाग्रसन्निवेश से चित्त का निरोध होता है।<sup>५</sup> इससे संकल्प-विकल्प का प्रवाह टूट जाता है।

इस प्रकार जैन दर्शन में मन के अर्थ से लेकर मनोनिरोध तक की पूरी पद्धति बताई गई है।

१. मनोनुशासनम् प्रकरण २, पृ० ३३-३८

२. उत्तराध्ययन सूत्र २३/५५-५८

३. पातंजल योगदर्शन I, १२-१६

४. संयुक्त निकाय यतो-यतो प्रमुञ्चति १/१/२४  
न सञ्चतो...निवारये १/१/२५

५. उत्तराध्ययन २९/२६